# देखना, मात्र देखना ही हो

☐ सत्यनारायण गोयनका

बम्बई से लगभग ५० मील दूर, पश्चिम रेलवे पर एक छोटा-सा स्टेशन है—नल्ला। पास में समुद्र के किनारे एक छोटा-सा ग्राम है—सुप्पारा। २५०० वर्ष पहले यह सुप्पारकपत्तन नामक भारत का अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था। उन दिनों पत्तन बन्दरगाह को कहते थे।

उन दिनों सुप्पारकपत्तन में एक अत्यन्त वृद्ध संन्यासी रहता था। सिर पर सफेद बालों की जटा, चेहरे पर श्वेत लम्बी दाढ़ी और मूछें, वल्कल धारी कृश शरीर—संन्यासी का बड़ा ही भव्य व्यक्तित्व था। उस नगरी के अनेक धनी-मानी लोग उसके भक्त थे। सैकड़ों नित्य दर्शन करने आते, चरण-रज सिर पर चढ़ाते, खूब दान-दक्षिणा, विपुल खाद्य सामग्री और औषधि अर्पित कर अपने आपको धन्य समझते। भक्तों द्वारा प्रकट की गयी भक्ति और महिमा ने संन्यासी के मन में यह विश्वास पैदा कर दिया कि वह अर्हत् अवस्था को प्राप्त हो गया है। जीवन्मुक्त हो, भवबन्धनों से छूट गया है।

एक दिन किसी हितैषी ने बड़े प्रेम से समझाया 'वह अभी अर्हत् नहीं हुआ और न ही अर्हत् होने के मार्ग पर ही है।' यह सुन उसे सदमा पहुँचा, पर विवेकशील होने से चिन्तन करने पर उसे प्रतीत हुआ कि उस पर अब तक विकारों का प्रभाव है, तो वह अर्हत् या जीवन्मुक्त कैसे हो सकता है। एकाग्रता के अभ्यास के बावजूद उसकी विचारधारा सर्वथा विकाररहित नहीं हो पायी।

उसने प्रश्न किया—'क्या इस संसार में कोई ऐसा व्यक्ति है जिसका चित्त विकारों से पूर्णतया मुक्त हो गया है? जो अर्हत् हो गया है?'

उत्तर मिला—'हाँ, अवश्य है। उत्तर भारत के कपिलवस्तु का राजकुमार सिद्धार्थ गौतम जो सत्य की खोज में घर से निकल पड़ा और वर्षों की खोज के बाद चित्त के समस्त विकारों से मुक्त होने की विधि उसने खोज निकाली और स्वयं अभ्यास से अर्हत् अवस्था प्राप्त कर ली है। वह स्वयं बुद्ध है। वे इस समय जेतवन में हैं। उन्होंने जिस विधि से दुःखों से मुक्ति पायी उसको करुणचित्त से, बिना भेदभाव के सबको सिखाते हैं।'

संन्यासी ने सुना तो उसके मन में विचारों का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। मुझे घर छोड़ मुक्त होने के लिए संन्यासी हुए कई वर्ष बीत गये। परन्तु अब तक ऐसा तो नहीं हुआ। बाहरी वेश-भूषा, कर्मकाण्ड और त्याग-तपस्या से मान-सम्मान, गौरव-गरिमा, पूजा-प्रतिष्ठा तो प्राप्त हो रही है, पर उन बेचारों को मेरी मन की स्थिति का क्या पता। वे तो मेरे बाह्य रूप को ही देख रहे हैं। पर मुझे इस झूठे मान-सम्मान से क्या लाभ? जिस लक्ष्य के लिए घर छोड़ा था वह तो प्राप्त हुआ ही नहीं। चित्त विशुद्ध और विमुक्त नहीं हुआ। यह तो मानव-जीवन में ही सम्भव है और मेरी अवस्था भी वृद्ध है, शेष जीवन अल्प रहा है।

उसके मन में संकल्प जगा—'जिस विधि से तथागत ने मुक्ति पायी उसे प्राप्त करूँ।' उसके मन में नवजीवन का संचार हुआ। जीर्ण शरीर में युवकों-सी स्फूर्ति जगी और तत्काल श्रावस्ती की ओर चल पड़ा। तथागत के दर्शन और चित्त-विशुद्धि की विद्या सीखने की अभिलाषा ने संन्यासी के मन में अदम्य उत्साह भर दिया। श्रावस्ती की लम्बी यात्रा से उसे थकान महसूस नहीं हुई।

श्रावस्ती के जेतवन विहार में पहुँचा तो मालूम हुआ कि बुद्ध तो भिक्षा के लिए शहर में गये हैं। विहार-वासियों ने कहा कि कुछ देर विश्राम कर लो, तब तक तथागत लौट आयेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिव्राजक ने श्रावस्ती की ओर प्रयाण किया। कुछ दूर चलने पर उसने धीर-गम्भीर, सौम्य, शान्त मुद्रा, करुणायुक्त नयन, संयम और शान्ति की आभा वाले बुद्ध को देखा तो श्रद्धाविभोर होकर चरणों में मस्तक रखकर कहा—'भंते, मुझे शुद्धधर्म की साधना सिखाइए, जिससे मेरा स्थायी हित—सुख सधे।'

'साधना सिखाने का यह अनुकूल समय नहीं है, संन्यासी ? विहार लौटकर अवश्य सिखायेंगे।' तथागत ने कहा।

'भन्ते ! जिन्दगी का क्या भरोसा ? न मेरी, न आपकी। इस समय मेरी श्रद्धा सजीव है, अभी धर्मदेशना दीजिए।'

संन्यासी का आग्रह देखकर बुद्ध ने एक ओर रुककर धर्मोपदेश दिया, साधना सिखायी। कहा—**'दिट्ठमत्त मविस्सति, सुत्तमत्त भविस्सति'** देखना, मात्र देखना ही हो; सुनना, मात्र सुनना ही हो। इस प्रकार सूंघने में मात्र सूँघना ही हो; चखना, मात्र चखना ही हो; स्पर्श, मात्र स्पर्श हो और जानना, मात्र जानना ही हो।

जिज्ञासु और समझदार संन्यासी ने इस संक्षिप्त उपदेश को ठीक से समझा।

आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छः ही इन्द्रिय-द्वारों में से जिस क्षण जिस किसी द्वार पर जिस किसी विषय का यानी रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्पर्श हो उस समय केवल उसी की जानकारी हो और केवल जानकारी मात्र ही रह जाय। जिस क्षण जो हो रहा है, उसी क्षण वही जाने। देखना मात्र देखना, सुनना मात्र सुनना, सूंघना मात्र सूँघना, चखना मात्र चखना, छूना मात्र छूना, सोचना मात्र सोचना, केवल जानकार ही रह जाय। उसकी कोई प्रतिक्रिया न होने दे।

सतत अभ्यास द्वारा टुकड़े-टुकड़े करके काल के उस छोटे से छोटे हिस्से तक जा पहुँचे जिसे चित्तक्षण कहते हैं। देखेंगे कि इस नन्हें से चित्तक्षण में एक साथ दो घटना नहीं घटतीं। परन्तु कालधारा अत्यन्त तीव्रगति से प्रवाहित होती रहती है जिससे कि एक-एक क्षण को और उस एक-एक क्षण में घटने वाली घटना को हम अलग-अलग करके जानने की क्षमता खो बैठे हैं। तेज चलने वाले चलचित्र की तरह जीवनधारा को गतिशील देखने के इतने आदी हो गये हैं कि फिल्मरील के एक-एक चित्र को अलग-अलग देख ही नहीं पाते। इसी से दृष्टिभ्रम होता है, मरीचिका पनपती है। इसी से पूर्वापर सम्बन्ध जुड़ता है और राग-द्वेष तथा मोह-मूढ़ता का प्रपंच बढ़ता है।

छः इन्द्रिय-द्वारों में से जिस किसी पर जिस क्षण जो घटना घटी उसे केवल जानकर ही नहीं रह जाते बल्कि तुरन्त ही 'संज्ञा' द्वारा पहचानते हैं। 'संज्ञा' चेतना का वह हिस्सा है जो पूर्व अनुभूतियों के बल पर पहचानने का काम करती है। 'संज्ञा' द्वारा पहचानते ही प्रपंच का आरम्भ होता है। क्षण छूट जाता है और अतीत में भ्रमण करने लगते हैं। ऐसी या इससे मिलती-जुलती अनुभूति पहले हुई थी और हुई थी तो अच्छी लगी थी या बुरी। इस प्रकार मूल्यांकन होते ही प्रपंच और आगे बढ़ता है। चेतना का वह हिस्सा जिसे 'संस्कार' कहते हैं वह त्वरित काम करने लगता है। उसका काम है प्रतिक्रिया करना। इस क्षण का देखना, सुनना, सूंघना, चखना, छूना और सोचना अच्छा लगा तो राग की और बुरा लगा तो द्वेष की प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। मन भविष्य की कल्पना करने लगता है—ऐसा हो और ऐसा न हो। भूतकाल की याद और भविष्य की कामना-कल्पना से चित्त पर राग-द्वेष की विचारधारा चलने लगती है। यदि जिस क्षण में जो देखना आदि होता है, उसे केवल देखना आदि ही जानकर रुक जाय तो न आरम्भ होता है और न प्रपंच ही बढ़ता है। अनारम्भी ही प्रपंचमुक्त होता है।

साधक ध्यानपूर्वक देखता है कि शरीर की पाँच इन्द्रियों की यह स्पर्श-संघात की अनुभूति जितनी बार और जितने समय तक होती है उससे मन पर कहीं अधिक होती है। देखने, सुनने, सूंघने, चखने और छूने की अपेक्षा सोचने का काम अनन्तगुना अधिक होता है। जो घटना मन पर घटती है उसकी प्रतिक्रिया तो मन पर होती ही है किन्तु पाँच इन्द्रियों में से किसी पर भी घटे तो उसका प्रभाव भी मन पर होता है। सारा प्रपंच बढ़ाव-फैलाव मन से ही होता है। क्योंकि आरम्भ मन से होता है। जब तक हम जीवित हैं, और तन-मन के आयतन (खिड़की-दरवाजे) खुले हैं तब तक हर क्षण किसी न किसी आयतन से कुछ न कुछ प्रवेश होता ही रहता है और उसे लेकर यह पागल मन राग-द्वेष आरम्भ कर प्रपंच बनाता ही रहता है। ऐसी अवस्था में चित्त-विशुद्धि, चित्त-विमुक्ति कैसे हो ?

क्षण-क्षण के टुकड़े-टुकड़े कर उन्हें अलग-अलग नहीं जानने से वर्तमान को अतीत और अनागत से जोड़ते रहते हैं। इससे और कठिनाई पैदा होती है। भावनाओं के तारतम्य में अहंभाव, अस्मिताभाव और आत्म-भाव का अविरल-अविरल सूत्र पिरोया हुआ आभासित होता है। इसी से 'मैं' का अस्तित्व उभरता है। धीरे-धीरे यह 'मैं' की प्रतीति 'मैं हूँ' में परिवर्तित होकर दृढ़मूल बन जाती है। यह 'मैं हूँ' जिसने बचपन से अब तक अनुभूतियाँ कीं और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मैं हूँ' ऐसी अनुभूतियाँ भविष्य में करेगा। 'मैं हूँ' का यह भ्रम इस अस्तित्वहीन 'मैं' के प्रति आसक्तियाँ पैदा करता है जो राग-द्वेष की अग्नि को और अधिक प्रज्वलित करता है। यह 'मैं हूँ' ही अविद्या है। रागद्वेष और रागद्वेष को मोह-मूढ़ता ही 'मैं हूँ' को बलवान बनाती है।

साधक अपने सतत अभ्यास द्वारा फिल्म की रील के टुकड़े-टुकड़े कर लेता है तो 'मैं हूँ' का भ्रम टूटता है। 'मैं हूँ' फिर 'मैं है' में परिवर्तित होता है और 'मैं है' भी केवल लोक व्यवहार के लिए रह जाता है। इसमें 'मैं' के अलग-थलग व्यक्तित्व की भ्रान्ति दूर होती है। एक-एक क्षण का अपने आप में अलग-अलग साक्षात्कार होने लगता है। भ्रम टूटकर वस्तुस्थिति स्पष्ट होती है। प्रज्ञा जागती है। अविद्या का सारा क्लेश दूर होता है। राग-द्वेष की नयी गाँठें बँधनी बन्द होती हैं और पुरानी खुलने लगती हैं।

तब देखने में 'मैं देखता हूँ' का भ्रम दूर होता है। देखने में मात्र देखना ही रह जाता है। जैसे देखने में मात्र देखना, वैसे ही सुनने में मात्र सुनना, सूंघने में मात्र सूँघना, चखने में मात्र चखना, छूने में मात्र छूना रह जाता है और जानने में मात्र जानना रह जाता है। 'कर रहा हूँ' या 'भोग रहा हूँ' की जगह 'हो रहा' की सच्चाई प्रकट होती है। अहंभाव अहंकारविहीनता में प्रतिष्ठित होता है। आत्मभाव अनात्मभाव में बदलता है।

अब तक केवल सैद्धान्तिक स्तर पर साधक यह मानकर चलता था कि यह काया और आत्मा मेरी नहीं है किन्तु यह महज मानने की बात न रहकर स्वानुभूतियों के बल पर इस सच्चाई को स्वयं जान लेता है और उसे स्पष्ट हो जाता है कि इन इन्द्रियों की अनुभूतियों में भी किसी 'मैं' का अस्तित्व नहीं है। न यह ऐन्द्रिय अनुभूतियाँ किसी 'मैं' को धारण किये हुए हैं और न कोई 'मैं' इन इन्द्रियों को धारण किये हुए है।

तथागत ने यही बात संन्यासी को समझाते हुए कहा था 'जब तुम्हें **दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति**, देखने मात्र देखना मात्र होने लगे '**तं तो त्वं न तेन**' यानी इस देखने-सुनने आदि के कारण तुम हो यह भ्रान्ति दूर होगी और तभी '**ततो त्वं न तत्थ**' यानी इस देखने, सुनने में तुम हो यह भ्रम मिटेगा। ऐसी अहंशून्य स्थिति के प्राप्त होते ही लोकोत्तर निर्वाण का साक्षात्कार होगा। '**एसवन्तो दुक्खसा**' यही दुःखों का अन्त है।

इस उपदेश को संन्यासी केवल समझकर ही नहीं रह गया, बल्कि उसे जीवन में अपनाने लगा। जिसे अपनी मृत्यु समीप दिखायी दे, वह प्रमाद कैसे कर सकता है। वह एकान्त में बैठकर अन्तर्मुख हुआ और अविरल चित्त की धारा के टुकड़े-टुकड़े कर प्रत्येक क्षण को जैसा है वैसा देखने लगा। देखते-देखते ही अस्मिता दूर हुई, पूर्वसंस्कारों से छुटकारा मिला, चित्त अनासक्त बना, आस्रवों से मुक्त हो गया, परम निर्वाण पद का साक्षात्कार हो गया। संन्यासी कृतकृत्य हो गया। अल्प बचा जीवन सफल हो गया।

तथागत बुद्ध भिक्षा लेकर लौटे तो उसकी जीवन-लीला पूरी हो चुकी थी। भिक्षुओं ने उसकी गति के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा—वह सब गतियों से परे गतिमुक्त हो गया। परिनिर्वाण को प्राप्त हो गया है। उस समय उनके मुख से यह बोल निकल पड़े—

**यत्थ आपो च पठवो, तेजो वायो न गाधति।**
**न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो न प्पकासती॥**
**त तत्थ चंदिमा भाति तमो तत्थ न निज्जति।**
**यदा च अत्तनावे दि मुनि मोने न ब्राह्मणो॥**
**अथ रूपा च सुख-दुक्खा ययुच्चति॥**

जहाँ न पृथ्वी, न जल, न अग्नि और न वायु का ही प्रवेश है। जहाँ न शुक्र की ज्योति है, न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमा का उजाला है और जहाँ आलोक का अभाव भी नहीं है। कोई ब्राह्मण मुनि मौन-पथ पर चलकर इसे स्वयं जान लेता है तो सारे रूप और लोकों से पार चला जाता है। सुख-दुःखों के द्वन्दों से मुक्ति पा लेता है।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org